॥ श्री ॥

योगसाधक आयुर्वेदीय प्राकृतिक निदान और चिकित्सा

लेखक :- **वैद्य वेणीमाधवशास्त्री बा. जोशी, मुंबई ।**

आयुर्वेदमें चार प्रकार की चिकित्साएं बतायी हैं ।

१- **रोगनाशिनी** :- हम वैद्य-लोग हमारे जीवन के लिये जो चिकित्सा हमेशा करते रहतें हैं ।

२ **प्रकृतिस्थापनी** :- जो जन्मसे या रोगनाशन हो जानेके बाद वैद्य से रोगीको अवश्य करवा लेनी चाहिये । (प्रकृतिदोषनाशिनी)

३- **रसायनी** :- प्रकृतिस्थापनी चिकित्सासे सम-प्रकृति बन जानेके बाद उस स्वस्थ के प्रशस्त रसादि धातुओं का लाभ होनेके लिये जो करनी होती है ।

४ **नैष्ठिकी** :- सर्वधातु-सारत्व निर्माण होनेके बाद अत्यंत दुःखनाश करनेके लिये जो करनी होती है जिससे योग साध्य होता है ।

शरीर की भाषा

इन्हीं चारों चिकित्सा-प्रकारोंका निदान और चिकित्सा की दृष्टीसे संबंध बतानेका अल्पसा प्रयत्न कर रहा हूं । ये सर्व विषय समझने के लिये शरीरके चिन्ह शरीरकी भाषा है । भाषा से शरीर, स्वास्थ्य के लिये क्या चाहता है और किसका द्वेष करता है, ये हमेशाके लिये बताता रहता है । और शरीर के घटकोंकी क्या हालत है, कौन-सा द्रव्य अधिक है, कौनसा द्रव्य आवश्यक है, वह भी बताता है । वह द्रव्य शरीरमें शरीरकी जरूरत की अपेक्षा से अधिक हो गया हो तो उस द्रव्य के गुण और कर्मकी वृद्धि होती है । वह द्रव्य जितने प्रमाणमें ज्यादा हो उतने प्रमाणमें शरीरसे आत्मसात् न होनेकी वजहसे शल्यरूप होता है । वह गुण दुःखात्मक संवेदना बताता है । वह गुण बनानेवाले आहार-विहार से द्वेष निर्माण होता है, और वह द्रव्य कम करनेवाले उसके विपरीत-गुण-कर्म द्रव्यों की इच्छा निर्माण होती है । उदा०-शरीरमें शीत गुण बढ गया हो तो शीत द्रव्यों से द्वेष निर्माण होता है । उस समय शीत गुणों के द्रव्य शरीरमें शल्यरूप हो जाते हैं ।

"चयो वृद्धिः स्वधाम्नेव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।"

इस प्रमाणसे भी शीतद्रव्य ज्यादह हुए हो तो शीतके विपरीत उष्ण द्रव्यों की आकांक्षा बहुत जोरसे होती है। शीतगुणका अस्तित्व, द्वेष और उष्ण गुणेच्छा तीनों शरीरको त्रस्त करती है। इन तीनोंमे शीत गुणका अस्तित्व (वृद्धि) शरीरमें शल्यरूप होता – शरीरको चुभता है, ठंडा ठंडा मालूम होकर शरीरको त्रस्त करता है। इससे यह मालूम होता है की शरीरमें शीत गुण बढ गया है। शरीर कहता है "शीत गुण बढ गया है"। शीत गुण का द्वेष यह चिन्ह 'निदानपरिवर्जन करो' ऐसी आज्ञा देता है, और उष्णकी इच्छा, उष्ण चिकित्सा (उपचार) करनेके लिये बताती है।

यहां शरीरने रोग–निदान बताया। निदान (कारण) परिवर्जन भी बताया। (परिवर्जन की आज्ञा दी)। और उष्ण चिकित्सा भी बतायी। उष्ण चिकित्सासे शीतोपरम हो जाता है। चिकित्सा सफल होती है, यह शरीरके भाषा का एक बोलका (संकेतका) परिचय थोडेमें हमनें यहां कर लिया है।

शरीरमें उष्ण गुण बढ जाता है, तब वह भी त्रस्त करता है। तीक्ष्ण गुणों से दाह गुरु गुण से जाड्य, बढ जाता है। ऐसे २० गुणों के द्रव्य शरीरमें हैं। और इन्हीं की वृद्धि और क्षय होते रहते है। इनका मिश्रण होता रहता है। निदानमें रोगके सब चिन्ह शरीरके दोष–धातु–उपधातु–मल–अवयव–इंद्रिय––मन–बुद्धि–आत्मा इन्हीं कें बोल रहते हैं। इंद्रिय–मन–बुद्धि–आत्मा ये निजी–विकृतिके और शरीर विकृतिके संकेत व्यक्त करते हैं।

२० गुणों की जैसी भाषा बनती है, उसी तरह पांच कर्मोंसे ही (उत्क्षेपण–अपक्षेपण–आकुंचन –प्रसरण तथा गमन) अपनी भाषा व्यक्त करतें हैं। बीस गुणोंमें से दस गुण कफ के हैं, छः गुण वायु के और पांच गुण पित्त के हैं, यथा –

वात (६)	पित (५)	कफ (१०)
सूक्ष्म	उष्ण	स्थूल
लघु	सर	गुरु
रूक्ष	तीक्ष्ण	स्निग्ध
कठिन	द्रव	मृदु
चल	बिस्र	स्थिर
हिम		हिम
		मंद
		सान्द्र
		पिच्छिल
		श्लक्ष्ण

२० गुण मानों २० दोष ही है । व्यासतः दोष २० है, ऐसा समजनेमें गलती नहीं हो सकती । समासतः तीन दोष है । ऊपरके वर्गीकरणसे गुण समुच्चयसे तीन दोष और तद्गुणी–द्रव्य कैसा बनता है, यह समजमें आ सकता है ।

रोग चिकित्सा

निदानदर्शक चिन्हकी शारीर भाषाकी दृष्टिसे शरीर क्या कहता है, और उससे चिकित्सा क्या करनी है यह छोटासा उदा० विद्वानोंके सामने रखकर स्पष्ट करता हूं । छर्दि यह रोग उदा० के लिये लेता हूं । छर्दि यह चिन्ह न दोषोंका है न धातुओंका । यह अवयवका है, आमाशयका है । आमाशयकी हमेशाकी गति अधोगामिनी है । वह हमेशा उसमें प्रविष्ट अन्न, जल व औषध उनको–योग्य पचन करके–नीचे भेज देता है । स्वस्थावस्थामें इस कर्मके सिवा दूसरा कर्म वह नहीं करता । परंतु इसी आमाशयमें जब शरीरको अस्वस्थ बनानेवाला दोष और आहारादि संचित होते हैं, तब वहां उपर लिखे हुए गुणोंके –विशेषतः कफ–गुणोंके अनुसार शीत गौरव इ० चिन्होंसे "यहां कफ–संचित हुवा है," "कफ प्रकुपित हुवा है," वगैरह कहकर उसका द्वेष, और वह न लेनेकी इच्छा और लघु उष्ण द्रव्य व कर्म (लंघन)की इच्छा निर्माण हुआ करती है । यह चय– प्रकोपावस्थाका संदेश शरीरके संकेतसे मन बुद्धि और इन्द्रियोंने लिया नही, और लंघनादि चिकित्सा की नहीं, उल्टा गुरु–शीतादि लिया तो आमाशयमें कफ प्रकोप और स्थानसंश्रय होनेके बाद छर्दि यह विकार निर्माण होता है । शरीरमें कफ द्रव्यका ज्यादह संचय हो गया है इससे भी ज्यादह संचय होगा, तो शरीर पर आपत्ति निर्माण होगी । सब शरीर बिगड जायगा । इसलिए आमाशय उन दोषयुक्त द्रव्यको – जो शरीरमें अपनाया नहीं जा सकता, (नीचे ग्रहणीमें नहीं छोड सकता) उसकी गति उल्टी हो जाती है, उसकी उर्ध्वगति हो जाती है । उन दोषोंको आमाशय शरीरके बाहर मुखद्वारा फेंक देती है, जिसको उल्टी–छर्दि–बोला जाता है । शरीरने ही शरीरस्वास्थ्यके लिये यह चिन्ह निर्माण किया है । इसीलिये शरीर दोषोंका शोधन कर रहा है । दोषोंको बाहर भेज रहा है । यह समजकर निदान–परिवर्जन याने आमाशयमें कोइभी आहार–द्रव्य भेजनेका बंद करना चाहिये । छर्दिमें पुनः पुनः ज्यादह दोष जाते हैं, ऐसा छर्दिका स्वरुप होता, तो शरीरका दोष निकालनेका प्रयत्न कम होता है । उसकी ताकद पूरी नहीं होती । इसलिये हम वैद्योंसे शरीर अपने प्रयत्नमें कुछ मदद चाहता है । यह समजकर इस अवस्थामें छर्दिकी दवा देकर आमाशयस्थ उल्टी करनेवाला दोष निकाल देना चाहिये ।

'कफजायां वमेन्निबकृष्णापिंडितमर्षपैः ।
युक्तेन कोष्णतोयेन ॥ १७ ॥ अ० हृ० चि० ६.

यह स्थूल रूप से बताया है । रुग्ण वमन सहन न करनेवाला होगा तो उपवास–लंघन–देना चाहिये और कफघ्न अन्नपान का उपयोग करना चाहिये ।

पित्ताज छर्दिमें यह चिकित्सा उपयुक्त हो सकती है, पित्तदोष बाहर निकालने के लिये वमन की अपेक्षा विरेचन ज़्यादह उपयुक्त होता है । इसलिये विरेचन से वह बाहर निकाल कर भी कम नही हुआ तो वमन देकर पित्त को निकाल देना चाहिये । "उर्ध्वगेन हरेत्पित्तम्" आहार में दोषानुसार और आमाशय की अधोगति निर्माण करनेवाली यानें छर्दिनाशक आहारपान देना चाहिये ।

"वातज छदि में आमाशय अवकाश में "कफ़–पित्ते द्रवे धातू" नहीं रहते है । आमाशय से बाहर निकालने के लिये पार्थिव आप्य द्रव्य नहीं है, इस शोधन – चिन्हकी जरूरत ही नहीं है । किंतु यह होता है । आमाशय में बाहर फेकने जैसे द्रव्य न होते हुए भी आमाशयको उल्टी गति मिली है । केवल उस का क्षोभ ही हुआ है । और क्षोभका कारण वात है वह शोधनरूप चिन्ह से फिर बढता है । तो आमाशयावकाश में और उसके शरीर में जो वात है, उसका केवल शमन करना है जो ससैंधव किंचिदुष्णसर्पिः पान से होता है ।

हन्ति मारुतजां छर्दिं सर्पिः पीतं ससैंधवम् ।
किंचिदुष्णम् ॥ अ० हृ० चि० ६

ऐसा ही वातशामक भोजन देने से वातशमन होता है ।

प्रत्येक रोग में रोग का स्वरुप, उस के चिन्ह, इनका क्या अर्थ होता है, सर्व निदान–चिकित्साशास्त्रका विचार किया गया है; तो शरीर की भाषा का अर्थ समजकर उपचार किये गये तो रोगशमन अच्छी तरह से हो सकता है ।

उपद्रव, अन्य रोगोत्पत्ति, रिष्ट चिन्ह, इन का भी अर्थ लगाकर चिकित्सा क्या हो सकती है, इसका विचार कर उपचार किये जायेंगे, तो रोग अच्छा नहीं होगा तो भी राहत जरूर मिलेगी । एसी अवस्था में रसायन–चिकित्सा ही उपयुक्त होती है ।

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यांत्यवार्यताम् ।
रसायनार्द्विना ॥ १ ॥ सु० सू० ३३

रसायन–चिकित्सा से धातुओं के प्रशस्त विशुद्धतर घटक बनाने की प्रवृत्ति ही निर्माण कर विशुद्धतर बनाये जाते हैं । शोधन के उपरांत शेष रोगकर दोषों का भी पचन कर प्रशस्त धातुओं में रूपांतर करने की शरीर की प्रवृत्ति निर्माण होती है ।

अभीतक रोगावस्थामें चिन्हों का कैसा प्राकृतार्थ किया जाता है, और चिन्होंने सूचित कौनसी चिकित्सा प्राकृतिक हो सकती है यह बतानेकी कोशिश की है।

दोषप्रकृति-स्थापनी चिकित्सा

दोष–प्रकृति यह विकार है, दोषप्रकृति याने प्राकृत शरीर नहीं है । प्रकृति याने आरोग्य ।

दोषप्रकृति यह जन्म से ही विकृति रहती है। उस के लिये प्रकृति याने प्राकृत शरीर निर्माण होने के लिये चिकित्सा आवश्यक है। उदा० के लिये वात–प्र कृति विद्वानों के सामने रखता हूं। वात–प्रकृति व्यक्ति के शरीरावयव और केश स्फुटित धूसर रहते हैं, जिस से शरीर और केश के ऊपर वात गुणों का दर्शन होता है, वह कृश है, स्तेन है। प्राकृत शरीर अवस्था की अपेक्षा वात–दोष–प्रकृति में मांसादि धातुओं के घटक बहुत कम है। वह शरीर समावस्था में प्राकृत अवस्था में आने के लिये कुछ संकेत हमेशा निर्माण करता है। वात–शीत गुणका रहने के कारण "प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।" इस नियमानुसार शीतद्वेष रहता है और उष्णप्रेमी रहता है। शीत परिहार यह निदान–परिवर्जन है, और उष्णेच्छा यह चिकित्सा है। कृश शरीर में प्राकृत शरीरकी अपेक्षा मांसादि घटक संचित करने के लिये हमेशा वह ज्यादह खाता है (बहुभुजः)। उसके मन में आसपास के निसर्ग से देखी चीज अपने को चाहिये ऐसी हमेशा उसकी इच्छा होती है। वह दूसरे की होनेके कारण और यह असमर्थ होने से वह छीन नहीं ले सकता, चोरी कर सकता है। गीत हास्य उसे प्रिय रहता है। उसका कारण शरीर पुष्टि के लिये वह उपयुक्त है। उसकी मधुराम्ललवणोष्णों की आकांक्षा रहती है। ये वात–विपरीत–गुण के रस है। अग्नि के अनुसार मधुरादि स्निग्धोष्ण द्रव्यों का नित्य सेवन, गीतहास्य हमेशा श्रवण करना, इस से यह चिकित्सा वात–दोषशमन और अग्नि का समत्व निर्माण होने तक करनी चाहिये। अग्नि सम हो जानेके बाद देश–कालविपरीत सर्व रसयुक्त ऐसा सम–आहार भी लेना चाहिये।

"तेषां तु खलु चतुर्विधानां पुरुषाणां चत्वार्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवंति। तत्र समसर्वधातूनां सर्वाकारसमं, अधिकदोषाणां तु त्रयाणां यथास्वदोषाधिक्यं अभिसमीक्ष्य दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीण्यनु(न्न)–प्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवन्ति यावदग्नेः समीभावात् समे तु सममेव कार्यम् ।।७४।। –चरक वि० ६

इस चिकित्सा से वात–प्रकृतिवाले व्यक्ति की कृशता कम होगी, सम शरीर होगा और मधुराम्ल-लवणोष्णस्निग्ध इ० जो हमेशा इच्छा करता है, और वह लेनेसे जो सुखका अनुभव लेता है, वह कम हो जायगा। यह सुख सापेक्ष है। मधुरादिद्रव्योंकी शरीरको अपेक्षा रहती है और उनको लेनेसे शरीरको सुख लगता है, वे नहीं मिलेंगे तो वातके चिन्हसे दुःख ही रहता है।

सम–प्रकृति हो जानेके बाद आकांक्षा और आकांक्षापूर्तिसुख याने बाह्य–द्रव्योंपर निर्भर याने बाह्यद्रव्य सापेक्ष सुखको अवकाश ही नहीं रहता। प्राकृत शरीरके निसर्गमें जरूरत ही नहीं रहती। सम अवस्थामें विशिष्ट रसोंकी अपेक्षा रहती नहीं। उन रसोंकी न्यूनता दुःख नहीं, उनकी आकांक्षा नहीं, और आकांक्षा–पूर्तिका सुख भी नहीं।

सम प्रकृतिमें किसी भी विशिष्ट दोषों के गुणोंका आधिक्य रहता नहीं। कोइ भी दोष शल्यरूप

होता नहीं । इसलिये दुःख शमन करनेवाले द्रव्योंकी आकांक्षा और तत्पूर्तिजन्य सुख भी नहीं । शल्य नहीं और दुःख नहीं । तो निःशल्य शरीरमें सुखसंवेदनाएं ही सदाके लिये अखंड निर्माण होती रहती है । यह सुख उपदिनिर्दिष्ट बाह्यद्रव्यसापेक्ष सुखकी अपेक्षा निश्चित ही श्रेष्ठ है । और उस सुखमें ही वह मशगुल रहता है । यह सुख प्राकृतिक शरीरका स्वयं सुख है । शरीरके घटककी त्रुटि होती है तब भूख लगती है षड्रसात्मक आहारसे उसकी पूर्ति हो जाती है । शरीरमें शल्य न होनेसे, शल्य जिस अवयवमें रहता है उस शल्यकी तरफ मन खींचा नहीं जा सकता । मन, शरीरकी अपेक्षा आत्मासे संयुक्त रहनेकी अवस्था निर्माण होती है। रजतम ये दोष भी उसको त्रस्त नहीं करते । (वात रजात्मक, पित्त संतापात्मक और कफ तमात्मक ।) आत्मा सत्वमूयिष्ठ रहता है ।

अब इसी तरहसे पित्त और कफ प्रकृतिमें पित्त व कफ शल्य उसका दुःख और उसकी शमनाकांक्षा देखकर और आकांक्षा पूर्तिकर रसादिओंका सेवन नित्य करनेसे सम मनका–सात्विक मनका–तथा प्राकृत धातुओंका शरीर निर्माण हो सकता है ।

रसायनी चिकित्सा

दोष सम होनेके बाद उसी प्राकृत धातुओंका ओर्जा बढाना जरूरी होता है । शुद्ध–विशुद्ध –विशुद्धतर धातु सर्व सामान्य व्यक्तिके शरीरमें रहते हैं। सर्व धातु विशुद्धतर याने सार (उत्तम) रहना यह प्राकृत–शरीरके उत्तम बलका दर्शक है । प्राकृत शरीर उत्तम बल रहना यही श्रेष्ठ आदर्श, आरोग्य है । स्वस्थ व्यक्तिको ऊर्जस्कर बनानेवाले द्रव्य सेवन करना चाहिये । यही रसादि प्रशस्त धातुओंकी निर्मिति कर सकते हैं । उन्हीं को रसायन कहते हैं ।

'स्वस्थस्य ऊर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद्रसायनम् ।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥''

(शस्तानां विशुद्धतराणाम्)

रसायन देनेके पहले पंचकर्मचिकित्सा से सर्व शरीर निर्दोष, शुद्ध कर लेना चाहिये । उसके उपरांत देश, काल शरीरके असार घटक देखकर सर्व शरीरके असार घटक सार बनानेकी क्षमता रहनेवाली औषधि देनी चाहिये ।

धातुओं के सारासारत्व लक्षणों से कौनसे धातु उत्तमसार है, मध्यमसार है और अल्पसार है यह मालूम होता है । मांससार क्षमावान् रहता है । तो मांस असार क्षमाहीन होता है । अपराधियोंको विना-दंड असमाधानी रहनेवाला होता है । वह कृश रहता है । शारीर श्रम से जल्दी थकता है । मांस–धातु–

असार होनेकी वजहसे उसके मल ज्यादह पैदा होते हैं । मांस धातु के मल ये ख–मल रहते हैं । प्रतिश्याय थोडेही कारणसे पैदा होता है । इसी तरह दूसरे भी चिन्होंसे मांसधातु असार समझनेसे, वह सारवान बनानेके लिये आमलकी रसायन आवश्यक है । शरीरके जो घटक न्यून हैं, अबल हैं, उनसे विशुद्धतर घटकोंकी निर्मिति हो सकती है । मांसधातु सारवान होनेसे क्षमा, मेदोधातु सारवान होनेसे दातृत्व, मांस–अस्थि सारवान होनेसे धृति, मज्जा धातु सारवान होने से स्मृति, रस–मांस इ० धातुओंके सार से बुद्धि बलवान् होती है । वह धी, धृति, – स्मृति – संपन्न पुरुष होता है । शुक्र धातु सारत्वसे शरीरांतर्गत सुख व आनंद के प्रवाह अधिक बढ जाते हैं । और आनंदमें उसका मन रममाण होता है । बाह्य उपकरणजन्य सुखकी जरूरत ही नहीं रहती ।

सर्व व्याधियोंका आदिकरण प्रज्ञापराध है ।

‘ धी धृति स्मृति विभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ चरक ।

धी, धृति, स्मृति संपन्न पुरुषसे प्रज्ञापराध न होने के कारण दोष–प्रकोप होता नहीं । रोग का कारण संभव ही नहीं तो रोग का अभाव ही रहेगा । सत्व गुणों की वृद्धि होती है ।

अंतरात्मनि सुखी रहनेके कारण व यह सुख, विषयसुखकी अपेक्षा बहुत उत्कृष्ट दर्जेका रहने के कारण, विषयसुख के लिये जो तृष्णा उत्पन्न होती रहती है वह इस व्यक्ति को उत्पन्न नहीं होती । इसलिये विषयसुख के लिये धीधृतिस्मृति–विभ्रंश होनेका समय ही नहीं रहता । यह अवस्था नैष्ठिकी चिकित्साके लिये अनुकूल भूमिका रूपसे उपयुक्त हो सकती है । चरकजीने कहा है विधियुक्त रसायनसे केवल दीर्घायुष्य मिलता है ऐसा नहीं, तो ब्रह्म भी मिलता है ।

न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते ।
रसायनं यो विधिवन्निषेवते ॥
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभाम् ।
प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षयम्” ॥ ८० । चरक चि० १ पाद–१.

रसायनचिकित्सा से जिस शरीर के धातु विशुद्धतम हो जाते हैं, वह शरीर मन प्राकृत अवस्था के स्तर के उच्च बिन्दूतक पहुंच जाता हैं । सब शरीर सुखमय आनंदमय हो जाता है । दुख:संयोग होता ही नहीं । दुःख ही क्या कोई भी वेदना की आवश्यकता रहती नहीं । उससे वह मुक्त होता हे ।

मन सदा के लिये आत्मा से संयुक्त होता है। मन का आत्मा से सम् + आधान = समाधान–समाधि अवस्था में रहता है।

"योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिः निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः" । चरक शा. अ. १

यह योगावस्था ही उसको प्राप्त होती है। नैष्ठिकी चिकित्सा, रसायन–चिकित्सा से जिस व्यक्ति के सर्वधातु सारवान नहीं बने तो नैष्ठिकी चिकित्सा की आवश्यकता रहती नहीं।

"सतां उपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम् ।
व्रतचर्योपवासौ च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥ १४३ ॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः ।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥ १४४ ॥
कर्मणामसमारंभः कृतानां च परिक्षयः ।
नैष्कर्म्यमनहंकार संयोगे भयदर्शनम् ॥ १४५ ॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्वपरीक्षणम् ।
तत्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते ॥ १४६ ॥" चरक शा. २

इस उपायसे योगावस्था तक वह पहुंच जाता है। यही मोक्षका उपाय है। मुक्तोंने दर्शित किया है। और कहा है "योग का और जन्मोत्तर मोक्षका यही एक मार्ग ऐसा है कि जिससे योग और मोक्ष–तक पहुंचा हुआ व्यक्ति पुनः वापस नहीं आया है।

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम् ।
तत्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागता ॥ १५० ॥ चरक शा. २

योगावस्था और दोषप्रकृत्यवस्था में धातु अशुद्ध और दोषयुक्त रहते हैं। प्राकृतावस्थामें धातु शुद्ध विशुद्ध और विशुद्धतर बनते हैं। प्रकृतिस्थापनीचिकित्सा से धातु शुद्ध विशुद्ध और विशुद्धतर बनते है। रासायनी–चिकित्सा से विशुद्धतर और विशुद्धतम बनते हैं, तो नैष्ठिकी चिकित्सा से सर्व धातु विशुद्धतमही निर्माण होते हैं।

"दुःखसंयोगो व्याधिः।" और "निष्ठा याने अत्यंत दुःखनाश" नैष्ठिकी चिकित्सा से सर्वधातु विशुद्धतम होकर अत्यंत दुःखनाश होता है। याने तात्त्विक रूप से दुःखसंयोग रहता ही नहीं। आत्यंतिक दुःखनाश आयुर्वेद चिकित्सा का आयुर्वेद का, अंतिम ध्येय है।